सामाजिक विज्ञान के चश्मे से जो मुझे मिला

निधि तिवारी

सभी चित्रः बोरखी जैन

एक दिन, जब मैं शिमोगा (कर्नाटक) से गाड़ी चलाते हुए लौट रही थी तो अपने एक नज़दीकी मित्र से मेरी थोड़ी बहस हो गई। फिलॉसफी के दायरे में घुसते हुए हमारे बीच इस बात पर बहस हो रही थी कि क्या जीवन में 'ग्रे' जैसा कुछ होता है। बहस तब शुरू हुई जब मैंने उसके इस कथन पर गहरी आपत्ति जताई कि "मेरे जीवन में 'ग्रे' जैसा कुछ नहीं है, मैं तो हमेशा 'ब्लैक एंड व्हाइट' में जीता हूँ!" इसके आगे वह इस हद तक कह गया, "मैं अपने बच्चों को कभी नहीं सिखाऊँगा कि जीवन में 'ग्रे' जैसा

भी कुछ होता है।"

मैं आशा करती हूँ कि जब मैं 'धूसर' यानी 'ग्रे' शब्द का उपयोग करती हूँ तो आप उसका अर्थ समझ रहे होंगे। यहाँ धूसर शब्द ऐसे विभिन्न हालातों/सम्बन्धों/रवैयों/आचरणों की ओर इशारा करता है जो हमारे सामान्यतः घोषित मूल्यों के घेरे से बाहर होते हैं। उदाहरण के लिए, यद्यपि सार्वजनिक तौर पर कोई भी यह नहीं कहता कि रिश्वत लेना सही बात है, फिर भी रिश्वतखोरी फल-फूल रही है! इस विरोधाभास को आप कैसे दूर कर सकते हैं? 'स्वल्प ऐडजस्ट माडी.. (कृपया थोड़ा-सा समझौता कर लें)' वाला रवैया इसका एक और उदाहरण है। चाहे इसे हालातों पर डालें या परिस्थितियों पर, 'हमारे भीतर का धूसर समय-समय पर सामने आ ही जाता है,' चाहे हम इसे स्वीकार करें या न करें। मैं मानती हूँ कि यह स्वीकारना कठिन है और इसके लिए हिम्मत चाहिए।

मुझे यह जानकर बेहद आश्चर्य हुआ कि इस दुनिया में ऐसे व्यक्ति भी रहते हैं जो इस बात को पूरी तरह से नज़रअन्दाज़ करते हैं, या ऐसा विश्वास रखते हैं कि उनके आचरण/विचार/मेल-जोल में कुछ भी धूसर नहीं होता। अगले 200 कि.मी. तक मैं मानसिक क्षोभ में गाड़ी चलाती रही और यह अविश्वास मुझे लगातार विचलित करता रहा। कई हफ्तों बाद, आखिरकार 'यूरेका' वाला क्षण आ ही गया! क्या मेरे और मेरे मित्र के बीच हुई विसंगति की असली वजह यह तथ्य हो सकता है कि वह दुनिया को देखने के लिए 'विज्ञान के चश्मे' का उपयोग कर रहा था और मेरा चश्मा सामाजिक विज्ञान की पृष्ठभूमि से ओतप्रोत था? क्या आपको नहीं लगता कि विज्ञान के विषय कहीं ज़्यादा निश्चित, स्पष्ट, सही-गलत, और एक विशेष सीमा तक पूर्णता, प्रमाण और समापन की माँग करने वाले क्षेत्र हैं? जबकि दूसरी तरफ सामाजिक विज्ञान के विषय मेरे हिसाब से ज़्यादा लचीले, समझौतापरक, और विभिन्न दृष्टिकोणों को स्वीकार करने के लिए राज़ी रहने वाले विषय हैं। मुझे लगता है कि यह गुण इस अन्तर्जात विश्वास से उपजता है कि यहाँ कुछ भी परम सत्य/असत्य नहीं होता। अन्तर तो बस, आपकी आँखों पर चढ़े चश्मे का है जिससे आप चीज़ों को देखते हैं।

मेरी परिकल्पना और उसके साक्ष्य

मैंने अपनी नवीनतम परिकल्पना के लिए साक्ष्यों की तलाश शुरू की और विश्वास कीजिए, जितना मैं इस बारे में सोचती हूँ उतनी ही आश्वस्त होती जाती हूँ कि सामाजिक विज्ञान की पृष्ठभूमि वाले लोग दुनिया को एक ऐसे चश्मे से देखते हैं जिसमें लगभग सभी कुछ समाहित रहता है, और मुश्किल से ही कोई चीज़ बाहर रखी जाती है।

और इस चश्मे के बारे में मैं यहाँ बताना चाहती हूँ कि किस तरह इस

विषय ने मेरे विद्यार्थी जीवन के व्यक्तित्व-निर्धारक वर्षों के दौरान मेरी शिक्षा को प्रभावित किया।

हमेशा ही देश की राजनीति के प्रति उत्सुक रहने के चलते मेरी सबसे शुरुआती यादें जिस डरावनी बहस की हैं, वह है बाबरी मस्जिद की घटना। स्थानीय दंगों के चलते स्कूल बन्द कर दिए गए थे और मस्जिद पर चढ़े हुए लोगों के द्वारा अपने खड़े होने के आधार को ही गिराने की कोशिश करने के तकलीफदेह दृश्य देखने के लिए मेरे पास ढेर सारा समय था। बहुत आसानी से प्रभावित हो जाने वाली - हालाँकि बहुत जुझारू - लड़की होने के कारण मेरी त्वरित प्रतिक्रिया किसी-न-किसी पक्ष की तरफदारी करने की होती थी। मैं अपने बेबस माता-पिता से बहुत मुश्किल सवालात पूछती रही। कुछ लोग यह क्यों कह रहे हैं कि वे सही हैं जबकि वे तो इमारतें गिरा रहे हैं? पुलिस ऐसे लोगों को गिरफ्तार क्यों नहीं कर रही है? भोली! लेकिन उस घटना का अर्थ समझने के प्रति मैं बेहद जिज्ञासु और उत्सुक थी; यह दिमागी उथल-पुथल काफी समय तक नहीं थमी, वह मेरे स्कूल तक, और फिर सामाजिक विज्ञान की मेरी शिक्षिका तक भी जा पहुँची। और उन्होंने चीज़ों को सही परिप्रेक्ष्य में रखने का काम बहुत ही बेहतरीन ढंग से किया।

उन्होंने शुरुआत ब्लैकबोर्ड के केन्द्र में एक गोला खींचकर की। मुझे बताया कि यह गोला दुनिया है। फिर उन्होंने मुझसे कहा कि मुझे जो-जो चीज़ें दुनिया का हिस्सा लगती हों उन्हें मैं

गोले में बना दूँ। किसी भी छोटे बच्चे की तरह, मैंने उस गोले को पानी, ज़मीन, पहाड़ों, लोगों, अपने परिवार, मेरे कुत्ते, और अन्य चीज़ों को बनाकर भर दिया। मुझे अच्छे से याद है कि मैंने उस गोले में भारत भी लिख दिया था। और फिर उन्होंने उस गोले की बाईं तरफ एक छोटी-सी छड़ी बना दी और उसको 'निधि' नाम दे दिया। इसके बाद उन्होंने दाईं तरफ भी उसी ढंग की एक और छड़ी बनाई तथा उसे कुछ और नाम दे दिया। उन्होंने उस गोले रूपी दुनिया में कुछ और चीज़ें भर दीं जो उन्हें लगा कि वह दूसरा व्यक्ति उसमें चाह सकता है। फिर मुझे समझाया कि मैं दुनिया का एक ही हिस्सा देख रही थी और उसे उन्होंने 'मेरी दुनिया' कहा, जबकि वह दूसरा व्यक्ति दुनिया के एक अन्य हिस्से को देख रहा है, और इस तरह हम लोग एक ही दुनिया के दो अलग-अलग आयाम देख रहे हैं। वे बोलीं कि समस्या यही है। लोग एक ही इमारत (मस्जिद और मन्दिर) में भिन्न-भिन्न यथार्थ देख रहे थे और इसीलिए वे उसे गिराने पर आमादा थे। यह था एक और 'यूरेका' क्षण - पहली बार, मुझे अहसास हुआ कि एक ही घटना/आचरण को लेकर कथित तर्क-आधारों के पीछे दो बिलकुल अलग विचार प्रक्रियाएँ हो सकती हैं।

उस समय यह बात मुझे बहुत हतोत्साहित कर देने वाली लगी कि ऐसा भी सम्भव है कि लोगों के दो समूह अपने अलग-अलग स्थापित सत्यों पर ही विश्वास करते हैं! बड़े होने पर, अब यह अहसास कि लोग अलग-अलग सन्दर्भों से सोचते व आचरण करते हैं, कहीं ज़्यादा स्पष्ट और महत्वपूर्ण हो गया है।

सांस्कृतिक अन्तर का असर

हाल ही में, मेरा एक लीडरशिप कोर्स के लिए अमेरिका जाना हुआ और वहाँ हुई एक घटना ने मुझे फिर से बीते समय में पहुँचा दिया। एक नया अनुभव मेरे सामने था। यहाँ मैंने सुनसान जंगल में कुछ अमेरिकी युवाओं के साथ साठ दिन गुज़ारे और सुख-सुविधाओं से रहित कठोर ज़िन्दगी जी। हमारे इस दल की सोशल डायनेमिक्स बेहद चुनौतीपूर्ण थी। एक समय तो ऐसा भी आया जब वे लोग मेरे शिष्टाचार के तरीकों और मेरी शब्दावली से भी खिन्न हो गए। मैं हर बात के बाद 'शुक्रिया' और 'धन्यवाद' नहीं कहती थी, सम्मान दिखाने के मेरे ढंग में बाह्य-प्रदर्शन नहीं था। और क्या आप यकीन कर सकते हैं कि हमारी संध्याकालीन सभा में इस मुद्दे पर दो घण्टे तक चर्चा चली!

अहा... फिर से विभिन्न सन्दर्भों वाली बात! क्या यह आलोचना मेरी अलग सांस्कृतिक परवरिश के चलते हो रही थी? क्या हम भारतीय लोग, खुद को शब्दों के माध्यम से कम व्यक्त करते हैं? क्या हम अलग ढंग से संवाद करते हैं? यह महसूस करते

हुए कि मेरा पूरा दल एक भिन्न सांस्कृतिक पृष्ठभूमि के प्रभाव में आचरण कर रहा था, क्या मेरे द्वारा उनके अवलोकनों पर टीका-टिप्पणी करना उचित है? यहाँ भी सामाजिक विज्ञान मुझे राहत देने के लिए हाज़िर था। यह अहसास हो जाने के बाद मुझे अपने दल के साथियों के साथ रहते हुए किसी भी तरह की दिक्कत महसूस होना बन्द हो गई। मैंने जान लिया था कि हम लोगों के बीच दरअसल, एक सांस्कृतिक खाई थी और मेरे बारे में उनकी टिप्पणियों में कुछ भी व्यक्तिगत या दुर्भावनापूर्ण नहीं था। तो यह एक और उदाहरण है कि किस तरह इस विषय को पढ़ने से मिली समझ ने मुझे ऐसी परिस्थिति के बारे में भी पूरी तरह से वस्तुनिष्ठ बना दिया जो एक नाज़ुक स्थिति कही जा सकती थी।

इधर या उधर या और भी कुछ

वस्तुनिष्ठता और अलग-अलग दृष्टिकोणों की बात करते हुए, मुझे स्कूल की एक जीवन्त स्मृति विशेष रूप से याद आती है। नागरिक शास्त्र की कक्षा की एक विशेषता थी कि अकसर विद्यार्थियों द्वारा बेहद विवादात्मक दृष्टिकोण अपना लिए जाते थे - खासतौर पर जब संसदीय

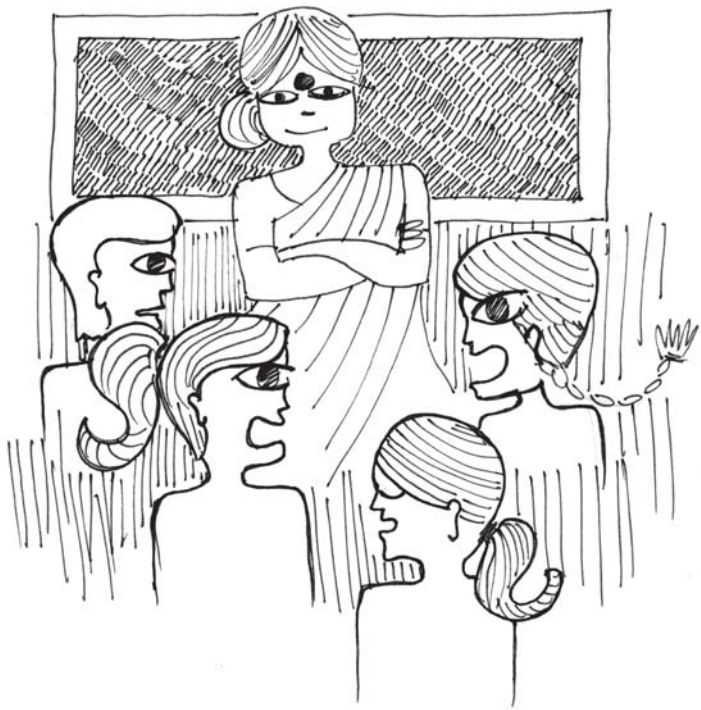

लोकतंत्र की बात होती थी। भ्रष्टाचार, चुनाव, अनैतिक राजनैतिक सौदेबाज़ी, आदि के बारे में कठिन सवाल उठाए जाते थे। पर हमारी शिक्षिका उन सभी बातों को बहुत खूबसूरती से सम्हालते हुए चलती थीं। अब सोचती हूँ तो समझ में आता है कि उन्होंने हमेशा मुद्दों को लेकर हमें कोई उत्तर नहीं दिए बल्कि चर्चाओं को खुला रहने दिया। हम अकसर, यह कहते हुए उनकी निन्दा किया करते थे कि "उन्हें कोई-न-कोई रुख अपनाना ही चाहिए, अपना मत बताना चाहिए।" क्या हमें भी यही नहीं सिखाया गया था? किसी भी मुद्दे पर एक रुख अख्तियार कर लेना या मत बना लेना, स्कूल में - और मैं कहूँगी जीवन में भी - अपना अस्तित्व बनाए रखने और आगे बढ़ने के लिए सबसे महत्वपूर्ण बात प्रतीत होती है। बचपन में, अकसर दोस्तों के बीच एक-दूसरे से पूछा जाता था, "बताओ, तुम किसके दोस्त हो, हमारे या उनके?" और उत्तर उस बच्चे के सामाजिक दायरे को निर्धारित करता था। मेरी सीमित कल्पनाशक्ति हमेशा मेरे गणित के शिक्षक के इन शब्दों से त्रस्त रहती थी कि या तो आप 'सही' हल करते हैं या 'गलत'। मैं अकसर सोचा करती कि सवालों के या बातों के दो सही उत्तर क्यों नहीं हो सकते? दुनिया हमेशा ही निश्चितता में डूबी हुई क्यों रहती थी? हमेशा ही या तो 'इधर' या 'उधर'।

शायद इसीलिए मुझे अपनी सामाजिक अध्ययन की कक्षा में सबसे ज़्यादा मज़ा आता था, क्योंकि उसमें मुझे दो भिन्न और परस्पर विरोधी दृष्टिकोणों का, बगैर उनमें से किसी की भी तरफदारी किए, अर्थ समझने का मौका मिलता था। चीज़ों को लेकर

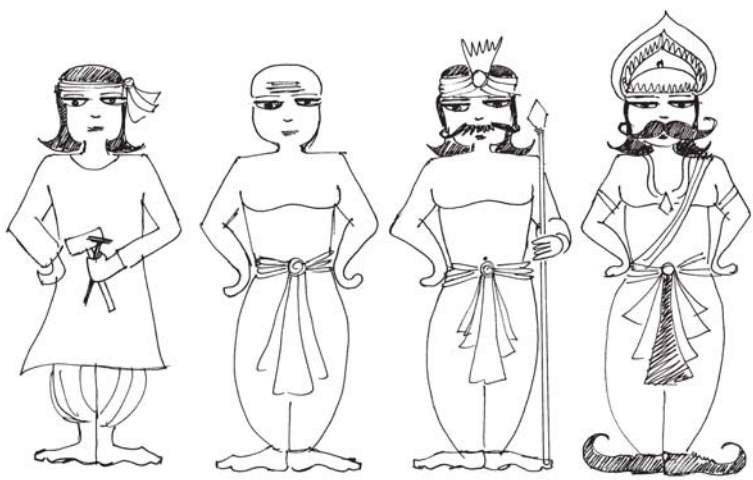

मेरी दृष्टि को पूर्ण रूप से नकार देने के लिए कोई साक्ष्य नहीं होता था। उदाहरण के लिए, मैं हमेशा सोचा करती थी कि जब ये राजा लोग लड़ाइयाँ करते रहते थे और अपने राज्यों का विस्तार करते थे तो आम आदमी क्या करता था? बहुत सारा वक्त तो मैं इस पशोपेश में बिताती थी कि क्या पुराने समय में हर दूसरा व्यक्ति सैनिक हुआ करता था? क्या उस समय हमारे जैसे साधारण मनुष्य भी होते थे - या फिर लोग केवल श्रेष्ठिजन, शिल्पकार, सैनिक या फिर ब्राह्मण ही होते थे? क्या लोग केवल लड़ाइयाँ ही लड़ते थे या उन्हें शान्तिपूर्ण जीवन जीने का मौका भी मिलता था? राजाओं के व्यक्तित्व के 'नकारात्मक' पहलुओं के बारे में इतना कम क्यों सुनने में आता है? अकसर, इन बातों को मेरी कल्पनाशक्ति पर छोड़ दिया जाता था और मेरी शिक्षिका की ओर से कुछ थोड़े-से संकेत या सुझाव भर मिलते थे। पर सुन्दर बात यह थी कि मेरी शिक्षिका मेरे द्वारा नई चीज़ें सीखने और उनके मुताबिक अपनी दिशा तय करने के प्रति सदैव खुला रवैया रखती थीं। 'एक सही' और 'एक गलत' के लिए मेरा मज़ाक नहीं बनाया गया। 'सही बातों' और 'गलत बातों' की यह स्वीकृत विविधता बेहद प्रेरणादायी थी।

भिन्न दृष्टिकोण के लिए जगह

समय बीतने के साथ, अपने रुख या 'सही' और 'गलत' की अपनी अवधारणा को उचित ठहराने की ज़रूरत कम होती गई। जैसे-जैसे वर्ष बीतते गए, और मैंने कठिन प्रश्नों, जैसे बाँधों का निर्माण, वनों का उन्मूलन, वन्यजीवों का शिकार, स्थानीय लोगों का पुनर्स्थापन और प्राकृतिक संरक्षण से छेड़छाड़, से जूझना शुरू किया तो मेरी सामाजिक विज्ञान की पढ़ाई से मुझे बहुत मदद मिली; इससे मैं विभिन्न दृष्टिकोणों को सराहने और उनका आदर करने में समर्थ हो पाई। मैं किसी एक रूढ़िवादी सिद्धान्त से चिपके रहने, और उसी के हिसाब से अपना जीवन जीने के लिए मजबूर नहीं थी। विभिन्न मतों से परिचित हो सकने, गलतियाँ कर सकने, जीवन के विविध पहलुओं को देख सकने, विभिन्न दृष्टिकोणों का आकलन कर सकने

का आनन्द; तथा सामंजस्य, समझौतों व समस्या-निवारण की कला सीखना, मेरे लिए इस विषय से प्राप्त सबसे बड़ी उपलब्धियाँ रही हैं।

मैं इस बात की तो गवाही देती ही हूँ कि इस विषय ने अपने आसपास के संसार के साथ मेरे ताल्लुकातों को तय करने के ढंग में सबसे महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है, पर साथ ही इसने मेरे चयनों, पारस्परिक क्रियाकलापों, सम्बन्धों को ज्ञान का आधार दिया है जिससे मैं अपने भीतर अपनी आत्मसत्ता का, मानवता का और विकल्पों का भान जीवित रख सकी हूँ। अकसर, इस विषय की माँग रही है कि मैं अपने सुविधापूर्ण दायरे से बाहर निकलूँ; सीखूँ कि लोग अलग-अलग सन्दर्भों के प्रभाव में कार्य करते हैं और मेरे चश्मे से उनके आचरणों पर फैसला नहीं सुनाया जा सकता क्योंकि दुनिया को देखने के उनके अपने चश्मे हैं। वाकई मेरे लिए यह यात्रा एक गहरी समझ और परख देने वाली रही है।

निधि तिवारी: लगभग पिछले एक दशक से मीडिया एडवोकेसी तथा डॉक्यूमेंटेशन गतिविधियों में शामिल रही हैं। वर्तमान में वे अज़ीम प्रेमजी फाउण्डेशन, बैंगलोर के ऐडवोकेसी एण्ड कम्यूनिकेशन समूह के साथ सलाहकार के तौर पर जुड़ी हुई हैं। अपने नगर-आधारित कार्यों के अलावा, वे स्वयं के द्वारा शुरू की गई एक पारिस्थितिक-पर्यटन पहल के माध्यम से कर्नाटक की शरावती घाटी के स्थानीय समुदायों के साथ निकटता से जुड़कर कार्य करती हैं।

अँग्रेज़ी से अनुवाद: भरत त्रिपाठी: पत्रकारिता का अध्ययन। स्वतंत्र लेखन और द्विभाषिक अनुवाद करते हैं। होशंगाबाद में निवास।

चित्र: बोस्की जैन: सिम्बायोसिस ग्राफिक्स एण्ड डिज़ाइन कॉलेज, पुणे से ग्राफिक्स डिज़ाइनिंग में स्नातक। मध्य भारत के गोंड क्षेत्र की आदिवासी कला के अध्ययन में विशेष रुचि। भोपाल में निवास।

यह लेख अज़ीम प्रेमजी फाउण्डेशन द्वारा प्रकाशित लर्निंग कर्व, अंक-15, सोशल साइंसेज़ से साभार।